eISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 07, Special Issue 01, February 2024

कबीर के काव्य में स्त्री : एक नई दृष्टि

[1]डॉ0 प्रेमशीला
[1]असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, श्री कृष्ण विश्वविद्यालय छतरपुर, म0प्र0

Received: 17 Dec 2023, Accepted: 15 January 2024, Published online: 01 February 2024

Abstract

कबीर वैदिक परम्परा के नहीं, आजीवक परम्परा के कवि हैं। कबीर के काव्य को प्रक्षप्ति करने के कारण उनकी विचारधारा भी प्रक्षप्ति हो गई है। दूसरे कबीर की कविता के प्रक्षप्ति करने से योगियों, सन्यासियों और वैरागियों का स्त्री–विरोधी चिन्तन भी उसमें प्रविष्ट हो गया है अगर कबीर की स्वतंत्र विचारधारा के आधार पर उनकी कविता का स्वतंत्र पीठ तैयार किया जाय तो कबीर के स्त्री–चिन्तन की स्वतंत्र और मौलिक जमीन स्पष्ट हो जायेगी। तब स्पष्ट हो जाएगा। कि कबीर समूची स्त्री जाति या स्त्री मात्र के विरोधी नहीं बल्कि कुलटा, दुराचारणी या व्यभिचाणी स्त्री के विरोधी है तथा पवित्रता और सदाचारिणी स्त्री के प्रशंसक है। कबीर जार पुरूष के भी विरूद्ध है।

बीच शब्द–किंवदन्ती, एतिहासिक, पौराणिक, मध्यकालीनता, औपनिवेशिक संदर्भ, समानान्तर, विवेकहीनता, व्यक्तिगत मुक्ति, पारिवारिक मुक्ति।

Introduction

कबीर किंवदन्ती पुरुष नहीं, ऐतिहासिक पुरुष हैं; वह पौराणिक काल की नहीं, ऐतिहासिक काल की उपज हैं। कबीर पौराणिक काल के विरुद्ध ऐतिहासिक काल में संघर्ष कर रहे हैं। मध्यकालीनता का निर्माण पौराणिक/सनातन काल और ऐतिहासिक काल दोनों से हुआ है। कबीर की कविता अपने समय में इन दोनों कालों के भीतर संघर्ष करते हुए दोनों के पार जाती हैं। वह इन कविता इन दोनों के भीतर से गुजरती हुई अपना वैकल्पिक काल रचती है। इस तरह कबीर की कविता पौराणिक आदर्शों से नहीं, ऐतिहासिक अनुभवों की रोशनी में रची गई है। मध्यकालीन इतिहास का पौराणिक काल कबीर की कविता का आंतरिक औपनिवेशिक संदर्भ है तो ऐतिहासिक काल बाह्य औपनिवेशिक संदर्भ। कबीर की कविता इन दोनों के द्वन्द से रची गई है, और इनके पार जा कर आदर्श/वैकल्पिक समाज (यूटोपिया) को रचती है। कबीर का स्वतंत्र दर्शन मध्यकालीनता के सघन बोध से उपजा है। बिना स्वतंत्र दर्शन के कबीर की कविता की कविता मध्यकालीनता में हस्तक्षेप कर ही नहीं सकती थी। कबीर के इस स्वतंत्र दर्शन की पहचान आजीवक परम्परा के रूप में की गई है। कबीर अपनी स्वतंत्र आजीवक परम्परा के दार्शनिक हैं।

कबीर घरबारी और सांसारिक हैं, वे धार्मिक और आध्यात्मिक साधनों के लिए स्त्री–मात्र को बाधक नहीं मानते, इसलिए कबीर को धार्मिक या आध्यात्मिक मुक्ति के लिए धर से पलायन या संन्यास का मार्ग ग्रहण करने की जरूरत नहीं पड़ी। कबीर के समाज के पास मंदिर या मठ थे नहीं, और ब्राह्मण के मंदिर या मठ में उसके प्रवेश की मनाही थीं, अतः कबीर चाह कर के भी घर

eISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 07, Special Issue 01, February 2024

से भाग कर अन्यत्र कोई साधना नहीं कर सकते थे। कबीर के संन्यास और योग का मार्ग रुचा नहीं है। उन्होंने योगियों की भर्त्सना करते हुए कहा है–

''मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपड़ा।
आसन मार मंदिर में बैठे, ब्रह्म छाड़ पूजन लगे पथरा।।
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौले, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होई गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम जराय जोगी होइ गैले हिजरा।।
मथवा मुंड़ाय जोगी कपड़ा रंगौले, गीता बांच के होइ गैले लबरा।
कहे कबीर सुनो भाई साधो, जम दरबजवा बांध जैबे पकड़ा।।''

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि कबीर 'काम जराय... हिजरा' होने के पक्ष में नहीं हैं, इसलिए घर उनकी आध्यात्मिक साधना के आड़े कहीं नहीं आता है। इस तरह संन्यासियों/योगियों और गृहस्थों का स्त्री–दृष्टि में बुनियादी फर्क होना एकदम स्वाभाविक और अनिवार्य है। मंदिरों और मठों का वातावरण स्त्री–विरोधी हो सकता है, लेकिन गृहस्थ साधकों के लिए घर स्त्री संसर्ग के साथ साधना–स्थली भी है। कबीर ने स्पष्ट लिखा है कि जिस प्रकार ज्ञानी होने के सुख को अज्ञानी नहीं पहचान सकता है, उसी प्रकार नर–नारी के सुख की पहचान 'खसी' (हिजरा) नहीं कर सकता–

'नर नारी के सुख को, खसी नहीं पहिचान।
त्यों ग्यानी के सुख को, अग्यानी नहिं जान।।'

कबीर ऐसे जीवन में आग लगाने की बात करते हैं यानी व्यर्थ मानते हैं, जहाँ भूख मिट जाने पर भोजन मिले, ठंड (शीत) गुज़र जाने पर बिछौना और कम्बल मिले और जीवन गुज़र जाने पर स्त्री का संसर्ग प्राप्त हो–

'भूख गई भोजन मिले, ठंड गई कंवाय।
जीवन गया तिरिया मिले, ताको आग लगाय।।'

योगियों ओर संयासियों के विरुद्ध कबीर स्त्री की निंदा करने के बजाय स्त्री को रत्न की खान मानते हैं, जिस से मनुष्य साधु, सन्त और सज्जन पैदा होता है–

'नारी निंदा न करो, नारी रतन की खान।
नारी से नर होत है, साधू, सन्त, सुजान।'

कबीर के लिए स्त्री 'पाप योनि' नहीं है बल्कि रत्न की खान और मनुष्य के उत्तरोत्तर विकास की माध्यम है। फलतः संयासी/योगी और गृहस्थ कबीर की स्त्री–दृष्टि में कोई समानता नहीं।

किसी भी दार्शनिक या कवि की सामाजिक दृष्टि के केन्द्र में स्त्री–दृष्टि ही प्रधान होती है। दूसरे शब्दों में, स्त्री–दृष्टि ही उसकी सामाजिक दृष्टि की कसौटी या आईना होती है। ऐसी स्थिति

eISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 07, Special Issue 01, February 2024

में स्त्री–विरोधी दृष्टि को समाज–विरोधी दृष्टि का पर्याय माना जा सकता है। वर्णवादी सगुण ईश्वर के समानांतर समतामूलक निर्गुण ईश्वर के आधार पर मानव–मात्र की समानता और बराबरी की बात करने वाला साधक कवि स्त्री–विरोधी होकर समाज में नहीं ठहर सकता है, फिर उसे संन्यासियों और योगियों की तरह घर, परिवार और समाज से पलायन कर के अन्यत्र शरण लेनी पड़ेगी। मठों में क्या होता रहा है और हिन्दू देवी–देवता क्या करते हैं, इस सब से कबीर भलीभाँति परिचित हैं। तभी कबीर कहते हैं–

"देवचरित सुनहु रे भाई, सो के ब्रह्मा घिया नसाई।
दूजे सुनी मंदोदरी तारा, तिन घर जेठ सदा लगवारा।
सुरपति जाय अहीलहिं हरी, सुरगुरु घरनि चंद्र मै हरी।
कहै कबीर हरि के गुन गाया, कुंती करन कुँवारहिं जाया।।"

ऐसी स्थिति में कबीर भूले–भटके संन्यासियों और योगियों को मठ से पुनः घर लाने यानी पुनः गृहस्थ बनाने की मांग करते हैं–

"अवधू, भूले को घर लावै।
सो जन हम को भावै।।
घर में जोग भोग घर ही में, घर तज बन नहिं जावै।
बन के गए कल्पना उपजे, तब धौं कहाँ समावै?
घर में जुक्ति मुक्ति घर ही में, जो गुरु अलख लखावै।
शून्य ध्यान की आसा तज के, सहज समाधि लगावै।।
घर की नार जो परघर बसिया, अवघट घाट चलावै।
बाको निरख न्यार हो रहिए, वह सब को बहकावै।।
सुख आनंद साहबी तज के, काहे खाक लगावै।
सुरत निरत सो मेला कर के, अनहद नाद बजावै।।
घर में बस्तु बस्तु भी घर है, घर ही बस्तु मिलावै।
कहै कबीर सुनो हो अवधू, ज्यों का त्यों ठहरावै।"

घर छोड़ वन–वन भटकने और तीर्थों–मठों में उस ज्योति (परब्रह्म) को खोजते–फिरने को कबीर विवेकहीनता कहते हैं–

"दारा गृह छोड़ि उदास फिरै, बन खंड में जाइ समाधि लागै।
इंगला पिंगला सुखमना ध्यान, झिलमिल जोति के मद्ध पागै।

eISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 07, Special Issue 01, February 2024

तीरथ में नित भरमि फिरै, कछू नहिं बंदे हाथ लागे।

कहे कबीर पै बिबेक बिना, कछू नहिं बंदे हाथ लागै।''

कबीर को पर इस उल्टी मान्यता पर आश्चर्य होता है कि घर जलाने पर उबरना (उद्धार) कहा जाता है तो घर को रखने (बचाने) पर घर का नष्ट होना कहा जाता है–

''घर जारै घर ऊबरै, घर राखे घट जाय।

एक अचम्भा देवियां, मुआ काल को खाय।''

इसलिए कबीर सलाह देते हुए कहते हैं–

''प्रेम पिछोरी तान के, सुख मंदिर में सोय।

घर कबीर, को पाय के, कहां मुक्ति को रोय?''

इस तरह कबीर गृहस्थ साधक हैं और उनकी कविता एक गृहस्थ की कविता है। कबीर किसी भी हालत में संन्यासी या योगी बनकर घर त्यागने का समर्थन नहीं करते। इससे यह तथ्य प्रत्यक्ष होता है कि कबीर की स्त्री के प्रति दृष्टिकोण योगियों और संन्यासियों के स्त्री–दृष्टिकोण से एकदम पृथक और स्वतंत्र है। वैसे कबीर के काव्य में योगी और गृहस्थ की बहस का कोई मतलब नहीं। ऐसा विभाजन मनुष्य को विभाजित करना होगा। कबीर के घर में ही गृहस्थ और संन्यासी दोनों हैं। कबीर घर में ही गृहस्थ और संयमी (कामी, योगी और सन्यासी नहीं) दोनों का जीवन यानी सदाचार और संतुलन का जीवन जी रहे हैं और ऐसा ही संतुलित और समग्र जीवन की वकालत भी कर रहे हैं। जैसे कबीर कवि के साथ–साथ साधक (धार्मिक) हैं वैसे ही कबीर गृहस्थ होने के साथ–साथ संयमी भी हैं। कबीर गृहस्थ हैं, जिनकी योगी और संन्यासी से कोई समानता या मेल नहीं। कबीर गृहस्थ और आध्यात्मिक ए साथ हैं और दोनों जगह संयम पर ज़ोर दे रहे हैं। ये दोनों रूप कबीर के यहाँ अलग–अलग नहीं हैं बल्कि दोनों संयुक्त और संश्लिष्ट रूप में है। डॉ0 धर्मवीर का प्रश्न है कि कबीर को कवि के साथ धार्मिक या धर्म–प्रवर्तक क्यों नहीं कहा जा सकता? यह आदमी के मूल्यांकन में एकांगीपन क्यों है? मनुष्य के टुकड़े–टुकड़े क्यों किए जा रहे हैं? यह बहस वही है कि जो आदमी संन्यासी होता है वह गृहस्थ नहीं होता है, और जो गृहस्थ होता है व संन्यासी नहीं हो सकता। यह वैसा ही तर्क है कि जो शासक होता है, वह संगीतकार नहीं हो सकता। यह आदमी की पूर्णता का विभाजन है कि जो पिता होता है वह पुत्र नहीं हो सकता। आदमी किसी का पिता है, किसी का पुत्र है, किसी का भाई है और किसी का पति है। उसे खाँचों में इस रूप में भरना कि उसे अब पत्नी मिल गई है तो अपनी माँ का त्याग करना पड़ेगा गलत है।''[11] इस तरह कबीर और उनका साधक मनुष्य घर और संसार में (गृहस्थ और भौतिक) रहते अध्यात्म तक पहुँचे हैं और अध्यात्म की उपलब्धि के बाद भी वह गृह–त्याग करने वाले नहीं है। कबीर के यहाँ योग मनुष्य की प्रवृत्तियों का परिष्कार और आत्मनियंत्रण यानी पारिवारिक–सामाजिक

eISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 07, Special Issue 01, February 2024

जीवन का सदाचार है, गृह त्याग द्वारा सामाजिक और सांसारिक मृत्यु नहीं। कबीर के मन में घर को लेकर कोई ग्रंथि या कुंठा नहीं है। क्योंकि कबीर व्यक्तिगत मुक्ति के साधक नहीं पारिवारिक मुक्ति के गृहस्थ साधक हैं। वह अपने साथ पूरे परिवार की मुक्ति की बात करते हैं।

कबीर और अन्य भक्ति कवियों की स्त्री दृष्टि का तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य

कबीर की कविता मध्यकालीन सत्ता–संघर्ष में सार्थक हस्तक्षेप है और यह हस्तक्षेप भीतरी और बाहरी दोनों है, शास्त्र और लोक दोनों स्तर पर है। इसी बहुआयामी अंतर्क्रिया में कबीर की कविता सृजनशीलता के स्तर पर गतिशील होती है। कबीर की कविता मध्यकालीन धर्मतंत्रात्मक समाज और राज्य में सार्थक हस्तक्षेप कर वैकल्पिक समाज के दर्शन और सौन्दर्य की सृष्टि करती है। इसी वैकल्पिक समाज के स्वप्न में कबीर की स्त्री–दृष्टि पर्यवसित है। कबीर की स्वतंत्र स्त्री–दृष्टि की उनके समकालीन साधकों और अन्य भक्त कवियों से कोई तुलना नहीं, लेकिन हिन्दी आलोचना कबीर की इस स्वतंत्र दृष्टि की पहचान करने में असमर्थ सिद्ध होती है। प्रस्तुत अध्याय के अंतर्गत मध्यकाल के अन्य भक्त कवियों के स्त्री विषयक दृष्टिकोण से तुलना और हिन्दी के आलोचकों के विवेचन के क्रम में कबीर की स्वतंत्र और विशिष्ट स्त्री–दृष्टि के आकलन का प्रयत्न है। इधर के कुछ समकालीन आलोचकों की विवेचना दृष्टि से भी कबीर की स्त्री–दृष्टि को स्वतंत्र रूप से पहचान करने और उसके विवेचन का मार्ग प्रशस्त किया है। जैसा कि इस प्रबंध के तीसरे अध्याय के अंतर्गत कबीर की स्त्री–दृष्टि के विवेचन के क्रम में कबीर की स्त्री–दृष्टि को योगियों, संन्यासियों और कामियों की स्त्री–दृष्टि से बुनियादी रूप से पृथक और स्वतंत्र बताया गया है। इन तीनों ने अपने कुत्सित आचरण से सामाजिक क्षेत्र के साथ–साथ भक्ति के क्षेत्र (आध्यात्मिक क्षेत्र) को कलुषित कर रखा था। इन्होंने स्त्री को अध्यात्म क्षेत्र की सबसे बड़ी बाधा, यहाँ तक कि 'पापयोनि' मान रखा था। कबीर ने घर के साथ–साथ भक्ति के क्षेत्र में सदाचार की मांग उठाई। घर से भागे हुए योगियों को गृहस्थ बनाने की वकालत की– 'अवधू, भूले को घर लावै।' इतना ही नहीं वैष्णव देवी–देवताओं को सदाचार के आधार पर कबीर ने कटघरे में खड़ा किया– 'देव चरित सुनो रे भाई।' यह वैष्णव समाज–दर्शन और अध्यात्म मार्ग से कबीर का बुनियादी फ़र्क़ था। कबीर खाने–कमाने वाले आजीवक समाज की परम्परा के दार्शनिक हैं, जहाँ वैष्णव परम्परा के अनुरूप कथनी–करनी का अंतर नहीं बल्कि भौतिक और परमार्थिक सत्य–सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में बुनियादी एकता है। ऐसा नहीं है कि वैष्णवों की तरह सिद्धांत में– 'जाति–पांति पूछे नहिं कोई, हरि का भजे सो हरि का कोई' का आदर्श है तो सामाजिक क्षेत्र में वर्ण–जाति की महिमा है। दोनों जगह कबीर के यहाँ मानव–मात्र की समानता व एकता है। इसी तरह सामाजिक क्षेत्र की तरह भक्ति (अध्यात्म) के क्षेत्र में भी सदाचार की प्रधानता है। यही समाज और अध्यात्म–दर्शन कबीर की स्त्री–दृष्टि के मूल में है।

eISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 07, Special Issue 01, February 2024

कबीर के द्विज आलोचकों ने कबीर को वैष्णव दर्शन के साथ घलमेल करके एक स्वर से कबीर को स्त्री–विरोधी या अंतर्विवरोधी घोषित किया है। लेकिन कबीर का वैष्णव दर्शन से बुनियादी अलगाव है। वह आजीवक परम्परा के गृहस्थ दार्शनिक हैं, जहाँ स्त्री भक्ति या अध्यात्म के क्षेत्र में अनिवार्य बाधक या अवरोध नहीं है। कबीर ने योगियों, संन्यासियों और आध्यात्मवादियों की तरह स्त्री की निंदा नहीं की बल्कि एक गृहस्थ साधक के नाते स्त्री की प्रशंसा की है। कबीर ने स्त्री–निंदकों की ख़बर लेते हुए कहा है–

'नारी निन्दा ना करो, नारी रतन की खान।
नारी से नर होत है, साधू, सन्त, सुजान।।'

इस तरह कबीर के लिए नारी 'नरक का कुंड' नहीं, 'रतन की खान' है। स्वर्ग–नरक की अवधारणा में कबीर का विश्वास नहीं है। स्त्री को 'नरक का द्वार' मानने की योगियों और संन्यासियों की अवधारणा है। इसी तरह कबीर की हिन्दुओं की सतीप्रथा में भी कोई आस्था नहीं है। उनके यहाँ स्त्री सती नहीं होती बल्कि घर बसाती है। कबीर के समाज में सती–प्रथा का कभी प्रचलन नहीं रहा। वहाँ सती होने के बजाय पुनर्विववाह का प्रचलन रहा है। इस भिन्नता और पृथकता के बावजूद हिन्दी आलोचना ने कबीर के स्त्री–सम्बंधी दृष्टिकोण पर वैष्णव कवियों के दृष्टिकोण का आरोपण किया हिंदी आलोचना में इसकी एक परम्परा सी दिखाई पड़ती है।

कबीर की अन्य भक्त कवियों से सामाजिक दृष्टिकोण की भिन्नता के साथ–साथ उनके स्त्री–सम्बंधी विचारों और दृष्टिकोण से भी पृथकता है। कबीर स्त्री को रत्न की खान समझते हैं तो तुलसी स्त्री को अवगुणों और बुराइयों की खान। तुलसी कहते हैं कि पति कैसा भी हो, पति की सेवा करना ही उसका धर्म है–

सहज अपावन नार, पति सेवत सुभगति लहै।
जस गावत श्रुतिचार, अजहूँ तुलसी हरि है पिये।।

तुलसीदास स्त्री की पराधीनता की पीड़ा की गहरी पहचान रखते हैं–

कत विधि सृजी नारि जगमांही, पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।

पर साथ ही तुलसीदास स्त्री की स्वतंत्रता को भी खतरनाक मानते हैं–

'जिमि स्वतंत्र भए बिगरहिं नारी।'

इसलिए तुलसीदास स्त्री को पुरुष के शासन में रखने के पक्षधर हैं।

eISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 07, Special Issue 01, February 2024

तुलसीदास के आदर्श समाज के स्वप्न रामराज्य में शूद्र और स्त्री का दमन होना स्वाभाविक है। 'वे चातुर्वर्ण्य को उदार बनाने और रामराज्य में सभी के द्वारा अपना कर्तव्य पूरा करने के पक्षधर हैं।' जिस रामराज्य की कल्पना तुलसी करते नहीं अघाते, उसमें नारी को कोई अधिकार नहीं है। तुलसी के राम राजा हैं, तो कृष्ण नौ लाख गायों के स्वामी। दोनों ही सामंत हैं। एक परम्परागत सामंती शासन के राजा हैं, तो दूसरे गोप संस्कृति के पालक। दोनों ही अपनी परम्परा और परिवार की नैतिकता के पालक हैं। उनका समाज मध्ययुग के सामंती समाज से अलग नहीं था।

पद्मावती जायसी की अद्वितीय सृष्टि है। वह सामंती समाज के रनिवास का लगभग विलोम है और उसे प्राप्त करने के लिए रत्नसेन को तप करना पड़ता है।[11] 'मानुष प्रेम' के इस कवि ने पद्मावत में धार्मिक कट्टरता के विरुद्ध प्रेम की विजय दिखाई है, लेकिन इस विजय में सती–प्रथा का समर्थन हो गया है, जिसे जायसी की स्त्री–दृष्टि की सीमा के रूप में देखा गया है। हिन्दू–कथा को आधार बनाने वाले जायसी से ऐसा होना स्वाभाविक लगता है लेकिन जायसी की अपनी इस्लामी परम्परा में सती–प्रथा के लिए कोई जगह नहीं है।

वहीं सूर के काव्य में गोपियों का प्रेम लोक और वेद के किसी बन्धन को स्वीकार नहीं करता है। वहाँ सती–प्रथा की भर्त्सना करने के साथ–साथ उसके त्रासद प्रभाव का संकेत भी है–

देख जरनि, जड़, नारि की, (रे) जरति प्रेम के संग।
चिता न चित फीको भयौ, (रे) रची जु पिय के रंग।
लोक–वेद बरजत सबै, (रे) देखत नैननि त्रास।।

लेकिन गोपियों की यह स्वच्छंदता बाहर से कितनी भी आकर्षक प्रतीत होती हो, इसकी आतरिक सच्चाई स्वतंत्रता के विरुद्ध ही जाती है। गोपियों का प्रेम अध्यात्मिक स्तर पर कितना भी उदात्त प्रतीत होता हो, लेकिन सामाजिक धरातल पर वह सामंती ढांचे से आगे नहीं जा पाता है। गोपियों का प्रेम आखिरकार एक सामंती नियम कानून के नायक (कृष्ण) के प्रति ही प्रेम है। दूसरे इसकी नैतिकता को लेकर कबीर ने कृष्ण को 'काम कौ कीरा' कहा है।

सूर की गोपियाँ आध्यात्मिक स्तर पर भले ही स्वच्छंद नज़र आती हों लेकिन सामाजिक धरातल पर वह स्वतंत्र नहीं है। इस अंतर्विरोध को उजागर करते हुए **कुमकुम संगारी** लिखती हैं– ''.....सूरदास ने न केवल राधा–कृष्ण के प्रेम पर कामोद्दीपक गीत रचे हैं, बल्कि कृष्ण को भावप्रवण प्रेम का प्रत्युत्तर भावप्रवण प्रेम से देने में पारंगत, दैवी प्रेमी के रूप में भी चित्रित किया है : **'माधव राधा के रंग राचे, राधा माधव रंग रई।'** राधा–कृष्ण एक–दूसरे में समा जाते हैं। प्रेम–लीला में दोनों ही इतने कुशल हैं कि 'काम' को भी लजाना पड़ता है– **'दुल्हन, दूल्हा श्यामा श्याम। कोक कला व्युतपन्न परस्पर, देखत लज्जित काम।'** हालाँकि गोपियाँ कृष्ण में पतिव्रत भाव से अनुरक्त हैं **(आपुही**

eISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 07, Special Issue 01, February 2024

कहि करौ पति सेवा तो सेवा कौ हैं हम आई), किन्तु उनमें से कई पहले ही विवाहित हैं जिन्होंने अपने पतियों व घर–बार को कृष्ण की खातिर त्याग दिया है **(गेह सोरा सहस हरि पे, छाड़ी सुत–पति स्नेह)** और वे मीरा से कम पराधीन प्रतीत होती हैं। यहाँ विडम्बना यही है कि कृष्ण स्वयं चंचल, लीलाधारी होते हुए पुरुष स्वर के श्रेष्ठतम उदाहरण की तरह गोपियों को स्त्री धर्म का कठोर उपदेश देते हैं। जब राधा कहती हैं कि उसके माता पिता उनके प्रेम के बारे में जानकर उसका विरोध कर रहे हैं। कृष्ण उन्हें यह कह कर संतुष्ट करने की चेष्टा करते हैं कि सामाजिक रीति–रिवाज़ों (लोकलाज और कुल मर्यादा) का पालन ही धर्म है और दोनों दूर रहकर भी दो देह, एक प्राण है **(द्वै तन, जीव एक हम दोउ)** वे ब्राह्मण स्त्रियों को न केवल पातिव्रत्य के लिए प्रोत्साहित करते हैं **(प्रभु कह्यो पतिव्रत करौ सदाई, हमको यही धर्म सुखदाई)** बल्कि गोपियों को यह भी बताते हैं कि पति–पत्नी एक–दूसरे को त्यागने पर तिरस्कार का पात्र बनते हैं, पति का धर्म पोषण व सुरक्षा है, पत्नी का धर्म पति की सेवा करना है चाहे वह अधर्मी ही क्यों न हो। और चूंकि पत्नी का धर्म उसके घर की सीमा के भीतर ही है, वह उन्हें घर लौट जाने की बात कहता है **(धिक् सौ नारी पुरूष जो त्यागे)** पति चाहे मूर्ख, रोगी अथवा पापी क्यों न हो, उसकी पूजा ही मुक्ति का वैदिक मार्ग है, पति को छोड़ने वाली स्त्री कुलीन नहीं रह जाती तथा उसे लोक–परलोक दोनों में दण्ड का भागी होना होगा। सूरदास भक्ति मार्ग में बाधा के रूप में स्त्री माया का मिश्रण कर देते हैं, जिसे त्यागना आवश्यक है। **'सुखदेव कहिया सुनो हो रार, नारी नागिनि एक स्वभाव'।** वह भी पतिव्रता की प्रशंसा व अनिष्ठ पत्नी की भर्त्सना करते हैं और गणिका के पुत्र के अनिश्चित पितृत्व को संदेहास्पद दृष्टि से देखते हैं। लोकलाज और कुल मर्यादा को तोड़ने वाली गोपियों के अवैध प्रेम को द्विभाव में रख कर व्यभिचार, वेश्यावृत्ति तथा ससुराल छोड़ने पर बहिष्कृत की गई वधू के प्रतीकों में किया गया है। **'ज्यूँ कुलवधू बाहिरि परिकेरी, कुल में फिरि न समै'।** स्त्री स्वर जहाँ गोपियों के गहरे कृष्ण प्रेम का उत्सव मना रहा है वहीं पुरुष स्वर उसकी कटु आलोचना कर रहा है।'' उपर्युक्त उद्धरण के संदर्भ में सूर की गोपियों की स्वतंत्रता के सामाजिक और आध्यात्मिक स्तर के द्वैत को अच्छी तरह समझा जा सकता है।

मीरा का स्त्री के बारे में दृष्टिकोण अन्य भक्त कवियों के स्त्री सम्बंधी दृष्टिकोण से एकदम अलग और स्वतंत्र माना गया है। एक स्त्री होने के नाते मीरा को खुद ही सामंती व्यवस्था के समाज में स्त्री की पराधीनता और यातना के झेलते हुए उसके खिलाफ संघर्ष करना पड़ा था। विधवा होने के बाद मीरा कुल की रीति और लोक की रूढ़ि के अनुसार सती नहीं हुई– 'भजन करस्यां सती न होस्यां मन मोध्यो घण नामी।' वह लगातार लांछन अपमान और यातना सहती हुई स्वतंत्र रहकर कृष्ण भक्त बनीं। मीरा जीव गोस्वामी से मिलने वृन्दावन गईं लेकिन जीव गोस्वामी स्त्री होने के कारण मीरा से मिलने से मना कर दिया। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तों का तो गुणगान किया गया। लेकिन मीरा को अपशब्द कहे गए।'' मीरा के काव्य को नारी–विद्रोह

eISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 07, Special Issue 01, February 2024

या स्त्री मुक्ति का काव्य माना गया। मीरा की भक्ति का स्त्री स्वर पुरुष भक्तों की भक्ति के स्त्री स्वर से एकदम अलग है। **कुमकुम संगारी** के अनुसार मीरा के लिए कृष्ण के साथ चल देने का साहस तथा लज्जा का त्याग–दोनों एक समान ही है जैसे **'सखी री लाज बैरन भई'** में वह परकीया के गहरे अतिशय प्रेम और असंयम को आदर्शपत्नीत्व के सम्पूर्ण समर्पण में मिला देती हैं। उनका स्वर वैध और अवैध के बीच डोलता एक रूढ़िगत सामंती रिश्ते को अनिवार्य उत्कण्ठा की चुनौती से भर देती है।'' वे आगे लिखती हैं– मीरा के काव्य में विरह, स्त्रीत्व को जेंडर की सीमाओं से परे ले जाता है : कुछ स्त्रियों के वास्तविक जीवन में मानवात्मा के सिद्धांत की ओर यह पलायन स्पष्ट दिखाई देता है। प्रेम को दुःख के अनुभव के रूप में लिया गया है **'प्रीत किए दुख होई'**। विषाद को स्त्री आसक्ति का अटूट हिस्सा माना गया है– **'हेरी मैं तो दरद दिवानी, मेरा दरद न जाने कोई'** यह पैदा हुआ है पितृसत्तात्मक प्रतिबंधों, नीति के उपदेशों और ऐसी अबूझ कामना से, जिसे पूरा करने में मानव–मात्र (क्योंकि वह अपूर्ण है) असमर्थ है, यही कामना मनुष्य को पूर्ण बनाने के लिए उसे दैवी रूपों में ढालने की लगातार कोशिश कर रही है।'' **कुमकुम संगारी** के अनुसार पुरुष भक्तों की भक्ति के स्त्री–स्वर जहाँ पितृसत्तात्मक मूल्यों को मजबूत करता है वहाँ स्त्री भक्तों की भक्ति का स्त्री–स्वर पितृसत्तात्मक मूल्यों और विवाह–संस्था को चुनौती देता हुआ नज़र आता है।

इधर मीरा के काव्य के एक अन्य आलोचक माधव हाड़ा की पुस्तक 'मीरा का जीवन और समाज–पंचरंग चोला पहन सखी री' शीर्षक से वर्ष 2015 में आई है। इस पुस्तक में 'प्रो0 हाड़ा जनश्रुतियों और ऐतिहासिक स्रोतों के विवेक पूर्ण उपयोग से मीरा के जीवन के कुछ अंधकारपूर्ण हिस्सों की पुनर्रचना करते हैं। उनका निष्कर्ष है कि मीरा पारम्परिक अर्थों में संत–भक्त नहीं थी। वह भावुकतापूर्ण ईश्वर भक्ति में लीन युवती नहीं थी। मीरा की कविता में आए सघन दुःख और अवसाद का कारण पितृसत्तात्मक अन्याय और उत्पीड़न नहीं था। अपितु खास प्रकार के घटना संकुल ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण यह था। इसी तरह मीरा के समय और समाज को ठहरा मानने के मार्क्सवादी और स्त्री विमर्शवादी विचारकों के तर्कों को ख़ारिज़ करते हुए प्रो0 हाड़ा सप्रमाण बताते हैं कि मीरा का समाज आदर्श समाज तो नहीं था, लेकिन यह पर्याप्त गतिशील और द्वन्द्वात्मक समाज था। तमाम अवरोधों के बाद भी इसमें कुछ हद तक मीरा होने की गुंजाईश और आजादी थी।' माधव हाड़ा का अपनी इस पुस्तक के बारे में खुद का लिखा लेख– 'सोनैं काट न लागै'– शीर्षक से बनासजन, के मार्च 2016 के अंक 16 में छपा है। इस लेख (टीप) से पुस्तक में उनकी महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं के बारे में पता चलता है।

संदर्भ संदर्भ–

eISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 07, Special Issue 01, February 2024

1. डॉ0 धर्मवीर, महान आजीवक : कबीर, रैदास और गोसाल (दूसरी पुस्तक : कबीर की वाणी) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण, 2017 पृ0 326
2. वही, पृष्ठ 417
3. वही, पृष्ठ 298
4. मैनेजर पांडेय, भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1993, पृष्ठ 26
5. वही, पृष्ठ 26
6. वही, पृष्ठ 26
7. वही, पृष्ठ 26
8. कात्यायनी, रामविलास शर्मा के कई नवजागरण और मार्क्सवादी इतिहास–दृष्टि, उद्‌भावना, नवम्बर, दिसम्बर, 2012, 26 अंक 104, सम्पादक अजेय कुमार, अतिथि सम्पादक प्रदीप सक्सेना, ए–2, सेक्टर–23, राजनगर, गाजियाबाद (उ0प्र0), पृष्ठ 2013
9. सूरज पालीवाल, भक्ति काव्य में नारी की स्थिति : मीरा के विशेष संदर्भ में (लेख) भक्ति आंदोलन : इतिहास और संस्कृति, सम्पादक कुँवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 2008 (प्रथम संस्करण 2002) पृष्ठ 299
10. वही, पृष्ठ 298
11. प्रेम शंकर, भक्तिकाव्य का समाजदर्शन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2007 (प्रथम संस्करण, 2004), पृष्ठ 120
12. मैंनेजर पांडेय, भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य (स्त्री–सम्बंधी दृष्टिकोण) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1993, पृष्ठ 27